शहर का बदलता चेहरा

आज देश भर में रोज़गार गारंटी कानून को लेकर चर्चा हो रही है। इस कानून को 'भूख से मुक्ति और काम के अधिकार' की दिशा में एक निर्णायक कदम बताया जा रहा है। हमारी नज़र में यह विचार काफी हद तक सही है क्योंकि जब तक देश के सभी काम कर सकने लायक व्यक्तियों को रोज़गार की गारंटी नहीं होगी तब तक इस देश से भूख को मिटा पाना असम्भव है। इसलिए इस दिशा में अभी तक हुए प्रयासों की सराहना एवं समर्थन करते हुए हम मौजूदा बहस में कुछ नए आयाम जोड़ना चाहते हैं।

'रोज़गार गारंटी कानून' को लेकर जो संवाद एवं बहसें पिछले कुछ वर्षों के दौरान चली हैं वे लगभग पूरी तरह से ग्रामीण अर्थव्यवस्था केन्द्रित रही हैं। इसका आधार शायद यह है कि आज भी देश की 72 फीसदी आबादी ग्रामीण इलाकों में रहती है और भूख से होने वाली अधिकांश मौतें गांवों में हुई है। मगर इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि शहरों में सब कुछ सही चल रहा है। या शहरों में रोज़गार गारंटी कानून की ज़रूरत नहीं है। दरअसल ऐसा एक कानून आज शहरी गरीबों के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य बन गया है। इसकी कुछ वजहें हैं।

नब्बे के दशक से जो उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया चली है उससे भारत के छोटे–बड़े शहरों का चेहरा लगातार बदलता जा रहा है। दिल्ली हो या मुम्बई, इंदौर हो या लखनऊ, सभी शहरों में आर्थिक पुनर्रचना का काम तेजी से चल रहा है। 'तीसरी दुनिया के शहरों' से 'वैश्विक शहर' बनने की होड़ लगी हुई है। फ्लाईओवर, मेट्रो, शापिंग मॉल, एक्सप्रेस वे, होटल, रिहायशी अपार्टमेंट – ये सभी आज शहरी भारत के चमचमाते प्रतीक बन गए हैं। इन प्रतीकों को खड़ा करने के लिए विदेशी संस्थानों से कर्जा लिया जाता है और फिर उस पैसे को ऐसे ही और प्रतीक बनाने पर खर्च किया जाता है।

इस खौफनाक भूलभूलैया में शहरों की बहुसंख्यक आबादी हाशिये पर धकेली जा रही है। इस बात को भुला दिया जा रहा है कि देश के शहरों की तीन–चौथाई आबादी को आज भी ज़मीन, पानी, बिजली, स्वास्थ्य, शिक्षा, शौचालय जैसी बुनियादी सुविधायें तक मयस्सर नहीं है। मेहतनकशों के शहर की मजार पर 'ग्लोबल सिटी' की मीनार बनाई जा रही है। अदालत, प्रशासन और 'नागरिक' 'क्लीन, ग्रीन एंड फास्ट' शहर चाहते हैं जहां गंदी झुग्गी बस्तियों न हों, धुंआ उगलने वाले कारखाने न हो, धीमे चलने वाले रिक्शा न हों और थके–हारे दिखने वाले मज़दूर न हों। दिल्ली में पिछले 5 वर्षों के दौरान 4 लाख झुग्गीवासियों को विस्थापित किया गया है। उद्योगबंदी के चलते डेढ़ लाख मज़दूर रोज़ी–रोटी खो चुके हैं और 12 लाख की बारी जल्दी ही आने वाली है। मुम्बई में संजय गांधी वन को बचाने के नाम पर 75000 परिवारों को विस्थापित किया गया। मिल बंदी से 1 लाख से ज़्यादा मज़दूर बेकार हो गए। कोलकाता में पर्यटन बढ़ाने के लिए टोली नाला से 15000 परिवारों को उजाड़ दिया गया। यही हाल हैदराबाद, बेंगलोर, इंदौर, लखनऊ, अहमदाबाद और बाकी शहर का भी है। कुछ सामान्य प्रवतियां जो आज देश के सभी शहरों में दिखाई पड़ती है वे इस प्रकार से हैं –

i. तमाम शहरों में कारखानों (मैनुफैक्चरिंग) को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके अपनाकर या तो खत्म किया जा रहा है या शहरों के बाहर धकेला जा रहा है। इससे औद्योगिक मज़दूरों को बड़ा हिस्सा या तो बेकार हो रहा है या पहले से बुरी अवस्था में काम करने को मजबूर है।

ii. संगठित क्षेत्र धीरे–धीरे गायब हो रहा है और असंगठित क्षेत्र फैलता जा रहा है। इसका अर्थ यह है कि न्यूनतम मज़दूरी, काम के घंटो का नियमन और रोज़गार एवं सामाजिक सुरक्षा जैसी चीज़ें मज़दूरों के हाथ से छिनती जा रही हैं।

iii. असंगठित क्षेत्र को मान्यता एवं नियमन से वंचित कर उसका अपराधीकरण किया जा रहा है। लचीलेपन के नाम पर मालिकों को खुले आम मज़दूरों का खून चूसने और उसके बाद उन्हें काम से निकाल बाहर करने का असीमित अधिकार दिया जा रहा है।

iv. सभी शहरों में बड़े पैमाने पर झुग्गी बस्तियों एवं कच्ची कालोनियों पर हमला बोला जा रहा है। उन्हें शहर के बीच से उठाकर शहर के बाहर पटका जा रहा है जहां न कोई सुविधा और न ही रोज़गार की व्यवस्था। विस्थापन के चलते मेहनतकश अवाम का एक बड़ा हिस्सा बेरोज़गारी की मार झेल रहा है।

v. इस सबके चलते दिल्ली जैसे शहर में पिछले 7 वर्षों के दौरान बेरोज़गारों की संख्या तिगुनी हो गयी है।

vi. जो काम मिल रहा है उसमें न तो रोज़गार की सुरक्षा है, न न्यूनतम मज़दूरी और न ही किसी किस्म की सामाजिक सुरक्षा। सी.डब्ल्यू.डी.सी द्वारा दिल्ली में किए गए अध्ययन के अनुसार घरों में काम करने वाले मज़दूरों की प्रति घंटा औसत मज़दूरी 2 रुपए 14 पैसे हैं।

काम की असुरक्षा आज के शहरी भारत की शायद सबसे बड़ी थीम है। इसलिए बहुत ज़रूरी है कि हम शहरी क्षेत्रों के लिए भी 'रोज़गार गारंटी कानून' के बारे में सोचें। यह कानून कैसा हो इस पर सबको मिल बैठकर विचार करने की ज़रूरत है।